पख होते हैं समय के



प्रीति मन्दिर प्रकाशन

पंख होते हैं समय के

राजेन्द्र गौतम

प्रकाशक
प्रीति-मन्दिर-प्रकाशन
1/6816, पूर्वी रोहतास नगर
बाबरपुर मार्ग, शाहदरा
दिल्ली 110032

प्रथम संस्करण 1989

मूल्य चालीस रुपये

आवरण मार्टिन

मुद्रक पङ्कज प्रिण्टर्स, मौजपुर
दिल्ली 110053

PANKHA HOTE HAIN SAMAYA KE (Poems) Price :
Rajendra Gautam

पूज्य भाई श्री भीमसिंह गौतम

एवं

माननीया भाभी श्रीमती विद्यादेवी गौतम को

सादर

सवाद

यो तो अधिकाश कविता-सग्रहो की भूमिकाएँ इस रूढ कथन से आरभ या समाप्त होती हैं कि कविता को किसी भूमिका की अपेक्षा नही होती लेकिन तब भी बार बार भूमिकाएँ लिखी जाती हैं। तो क्या प्रस्तुत भूमिका एक रूढि का निर्वाह भर है ? नही ऐसा नही है। कुछ कम रूढि पालन न होकर आनुष्ठानिक होते हैं और प्रत्येक अनुष्ठान कर्म की आवृति के साथ दोहराया जाता है क्योकि अनुष्ठान मे अन्तरनुभव से गुजरने का बोध होता है, जबकि रूढि-पालन तटस्थ मन का औपचारिक कम है। कविता-सग्रह के प्रकाशन के अवसर पर कविताओ की कवि द्वारा व्याख्या को अनपेक्षित मानना तो सहज है परन्तु कवि के लिए प्रत्येक बार कुछ प्रश्नो का साक्षात्कार अवश्यम्भावी होता है। कवि कम की सार्थकता और सामयिक सदर्भो मे उसकी रचनाओ की प्रासगिकता का विश्लेषण प्रत्येक कवि को बार-बार करना पडता है और कवि के पास इन प्रश्नो पर विचार करने का उपयुक्ततम स्थान उसके सग्रह की भूमिका ही है।

आज आशापूर्णा दवी की 'बकुल' की यह चिंता "परिवेश साहित्य पर जयी होगा या परिवेश पर साहित्य ? साहित्य की भूमिका क्या हारे हुए की है ?" समूचे लेखक वर्ग की चिंता है और चिंता का विषय यह भी है कि जहाँ लेखक एक वग बन कर समाज से कट गया है (तिरस्कृत हो गया है—कहना भी शायद अनुचित नही है), वही लेखको के भी अपने अपने वग बन गए हैं। पर इस 'वर्ग-विभाजन' की व्यथा-कथा कहने-सुनने का अवकाश किसे है ! आशा की जानी चाहिए कि साहित्य की भूमिका अतत हारे हुए की भूमिका न रहे। परिवेश पर साहित्य जयी हो परन्तु निश्चय ही अभी तो यह अपेक्षा एक दुराशा मात्र है। परिवेश आज एक मदोन्मत्त हाथी है। वह सब कुछ को कुचलता हुआ—तहस-नहस करता हुआ—झूम रहा है। कला, साहित्य, मूल्य मर्यादाएँ आदि तो इस निरकुश के पाँवों तले कुचली जाकर युद्धभूमि के क्षत विक्षत सैनिको-सी इधर-उधर बिखरी पडी हैं। इस ध्वस लीला के सभी सूत्र यत्र-प्रेरित सत्ता के हाथो मे चले गए हैं। इस भगदड ने साहित्यकार को किनारे खदेड दिया है और वह डोर भी अब उसके हाथो मे नही है, जिससे वह समाज को दिशा निर्देश देता था। प्रश्न सभवत यह नहीं है कि लेखक का इस रूप मे महत्त्व शून्य हो जाना उसके साथ न्याय है या नहीं, अधिक ज्वलत प्रश्न तो यह है कि साहित्यकार की उपेक्षा करके बनने वाले समाज का स्वरूप क्या होगा ? उसका भविष्य कैसा होगा ?

क्योकि साहित्यकार समाज के केन्द्र मे रहे यह अपेक्षा करने का आधार उसका अहकार नही है, वरन् उसकी प्रथम एव अतिम प्रतिबद्धता समाज के शिवत्व के प्रति है, यह मानना ही इसका आधार है।

ऐसा नही है कि साहित्य आज लिखा नही जा रहा या कम लिखा जा रहा है। यदि मुद्रित अक्षर को साहित्य रचना के परिमाण का मापदण्ड माना जाए (और वत्तमान युग मे तो यही मापदण्ड रह भी गया है) तो कहना होगा कि जितना साहित्य आज छप रहा है, उतना पहले कभी नही छपा था परन्तु इस अनन्त मुद्रण कम मे एक ही शुभता है कि इसस कागज विक्रेता, मुद्रक और प्रकाशक की रोटी चल रही है अन्यथा यदि आज शुद्ध पाठको का आकडा सकलित किया जाए तो साहित्य की पाठक-सख्या शून्य की ओर खिसकती नजर आएगी। यहाँ शुद्ध पाठक से तात्पय है—वह पाठक जो परीक्षा नही दे रहा है, जिसे अखबार म समीक्षा नही लिखनी है और जो स्वय लेखक नही है। ऐसी स्थिति मे साहित्य कम छपता है या ज्यादा इससे कोई अन्तर नही पडता।

ऐसा भी नही है कि साहित्य नितान्त अनुपयोगी हो गया हो, बल्कि विडम्बना तो यह है कि आज साहित्य उपयोग की ही वस्तु बन कर रह गया है—उपभोग की, कहना भी अतिशयोक्ति नही है। विज्ञापन से लेकर दल का घोषणा पत्र तयार करन तक साहित्यकार को ही उपयोग मे लाया जा रहा है। राजनीति की बिसात पर उसे गोटी बनाने की तिकडम दिन रात चलती हैं। सत्ता एव व्यवस्था ने बहुत कौशल से सब का नियोजित कर लिया है। अर्थ, पद, पदक, पुरस्कार आदि के अनेक ऐस स्वण रजत-पाश निर्मित कर लिए हैं, जिनसे प्रत्येक उस कलम को बाँधने का प्रयास किया जाना है, जिसमे भी कुछ दम नजर आता है। और जब परिवेश ने साहित्यकार को भुनाना आरभ ही कर दिया तो वह वर्त्तमान तक ही वहाँ रुका है। दिवगतो को भुनाना उसके लिए और भी सरल हो गया है।

प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यो हुआ? उत्तर स्पष्ट है। समूचे चितन एव आचरण का जब राजनीतीकरण हो जाए तो और क्या होगा? इस शताब्दी के आरभ मे राजनीति को मूल्या से अलग नही किया गया था परन्तु पिछले कुछ दशको से क्रमश मूल्यो का भक्षण ही राजनीति का लक्ष्य रहा है। जब सारी शक्ति माफिया गिरोहा के हाथो मे केन्द्रित हो जाए तो साहित्य की अस्मिता का प्रश्न स्वय ही अप्रासगिक हो जाता है। जब श्रव्य-दृश्य माध्यमो का ग्लमर साहित्य पर हावी हो जाए, तो उसकी शक्ति का ह्रास स्वाभाविक है। यन्त्र ही जिस युग का आदश हो, टैक्नोक्रेटस ही जब जन-गण भाग्य-विधाता हो, स्वदेश निरपेक्ष आधुनिकता ही जिस शासन-तन्त्र का आश्रय हो, उसके समय स पूव

इक्कीसवी शताब्दी मे पहुँचने मे किसी को सदेह नही होना चाहिए । इस 'सुपर-सोनिक' गति का साथ भला मूल्यो के भार से लदा साहित्य कैसे दे सकता है। उसे तो इसी शताब्दी मे जडीभूत होकर रह जाना होगा क्योकि मनुष्य के स्थानापन्न—कम्प्यूटर—से ही उस शती मे काव्य और कलाओ की सृष्टि होगी। जिस परिवेश मे सस्कृति राजनीति की क्रीत दासी हो, राष्ट्रभाषा विदेशी भाषा द्वारा पग-पग पर अपमानित हो, भौंडापन और भँडैती जिस युग के पाठक-दर्शक के सस्कारो की हत्या कर रह हो, वहाँ साहित्य के पाठक की खोज ? आखिर साहित्य सवेदना का ही तो व्यापार है, परन्तु जिस युग की सवेदनशीलता पर ही प्रतिक्षण तिग्म प्रहार हो रहे हो उसमे इसकी भूमिका का निष्प्रभाव रह जाना ही स्वाभाविक है। जहा रोज कानो के पर्दे बम के धमाको से फट रहे हो, जहा प्राथना मे झुके शिशुओ को गोलियो से छलनी किया जा रहा हो, जहाँ रोज एक-एक शव की कीमत की घोषणा हो रही हो जहा सडको पर धूल मिट्टी से खून की पर्त्तें अधिक गाढी हो गई हो, जहाँ हत्याएँ सूचना-भर हो, वहा सवेदना का कुठित हो जाना ही सहज है। आज आदमी बहुत बडा साधक हो गया है। अब उसे सुख-दुःख तब तक नही व्यापते जब तक वे नितात उसके न हो। जिस समाज मे क्रूरतम अपराध इसलिए सामान्य समाचार बन जाएँ क्योकि कल इस सीमा को भी लाघा ही जाएगा, जहा भयानकतम दुर्घटना आराम से चाय की चुस्कियाँ लेते समय पढी सुनी जाए, जहाँ बलात्कार, दहेज हत्याएँ, आत्म हत्याएँ, रेल, विमान व बस दुघटनाएँ तथा राजनैतिक-आर्थिक षडयन्त्र समाचारपत्रो के 'स्थायी-स्तभ' बन जाएँ, वहाँ इनका तटस्थ वाचन करना ही आदमी का स्वभाव बन जाता है। ये उसकी चमडी को कतई नही छूते। जब इतनी उत्तेजक स्थितियाँ आदमी को घेरे हो, वहाँ साहित्य कैसे उसके मम तक पहुँचे। जब आदमी की मौत भी निर्जीव आँकडो से अधिक महत्त्वपूण न रहे, तब साहित्य कौन-सा चमत्कार लेकर आदमी के पास जाए ? पजाबी कवि पाश की एक कविता की दो पक्तियो का भाव इस प्रकार है 'कविता अब अशक्त हो गई है। हथियारो के नाखून बुरी तरह से बढ आए हैं।' हाँ, यही है विडम्बना ! साहित्य को परिवेश ने यहीं आकर पटकनी दी है। एक हिसक उत्तेजना आज सगीत से लेकर नृत्य तक, चलचित्र से लेकर फुटपाथी तथाकथित साहित्य तक बिखरी है। और आज का आदमी—कुठित सवेदना वाला आदमी—इसी पैशाचिकता म—इसी अघोरी अटटहास मे अपने को 'स्व-स्थ' अनुभव कर रहा है। और साहित्य अपने 'स्व-भाव' मे सिमटा-सहमा इस ताडव को देख रहा है। क्या कहीं इस विष का प्रति विष है ? ? ?

यों इस स्थिति का एकतरफा विश्लेषण भी सार्थक नही है। साहित्य की

अधोगति के लिए स्वय साहित्यकार कम उत्तरदायी नहीं हैं। उसके समूचे परिदृश्य पर फिर कभी फिर कहीं विचार किया जाएगा। फिलहाल केवल कविता को लें। यो भी साहित्य का आज सबसे पीड़ित पक्ष कविता ही है। आप सभी छोटी-बडी पत्र पत्रिकाओ को देख जाइए। उनमे सबसे उपेक्षित स्थान कविता का ही होता है। कविता इनके लिए केवल 'फिलर' की उपयोगिता रखती है। कई पत्र पत्रिकाएँ तो अपने अनेक अक बिना कविताओं के ही निकाल देते हैं। अधिकाश के लिए कविता छापना औपचारिकता भर है। आप यह तो अपेक्षा कर ही नही सकते कि कोई प्रकाशक आपका कविता सग्रह छापने के लिए माँगेगा। भूल से यदि आप ही किसी से कह बैठें तो प्रत्येक के पास पाँच शब्दो का यही उत्तर होता है—'कविता-सग्रह बिकता ही कहाँ है?' कहिए जनाब, जब आप बिकाऊ माल ही नही हैं तो इस मण्डी म आए थे क्या लेने? प्रश्न की अनुगूज फिर सुनाई देती है—आखिर ऐसा हुआ क्यो?

ऐसा इसलिए हुआ क्योकि कवि ने कविता के आसपास मँडराते खतरों को सावधानी से अनुभव नही किया। यह सही है कि कविता किसी नियमबद्ध व्याकरण का एकरस भाष्य नही है परन्तु वह अराजकता का मूर्तिमान रूप भी तो नही हो सकती। माना कि कविता को सरलता से परिभाषाबद्ध नही किया जा सकता तो भी उसकी कुछ मूल पहचान तो होनी ही चाहिए। दुर्भाग्य यह है कि जिस काव्य सज्ञा प्राप्त सामग्री का प्रकाशन-प्रसारण अनवरत हो रहा है, उसके अधिकाश मे कविता की पहचान ही गायब है। दीर्घकाल तक तो कवि सम्मेलनी मच को कविताहीनता के लिए कोसा गया। पर अब आप किस किस को कोसेंगे? निरर्थक गद्य पक्तियो के टीबे बनकर जो सकलन धडाधड प्रकाशित हो रहे हैं, क्या उनमे कविता है? अखबारो और पत्रिकाओ मे जो अर्थ प्रदायी व्यर्थ शब्दविलास हो रहा है, क्या वह कविता है? दूरदर्शन जिस 'कविता' के दर्शन करवाता है, क्या वह ऐसी है कि पाठक व श्रोता उस पर सौ जान से फिदा हो जाएँ? कैसी विडम्बना है! मात्रा—केवल मात्रा! गुण उसमे से लुप्त हो गया है। कविता की इस लुप्त गुणता का कारण यही है कि उसस कविता की पहचान गायब हो गई है। और जब-जब कविता वणिक वृत्ति के चगुल मे फँसी है तब-तब उसकी पहचान गायब हो गई है!

यह किस क्रम से हुआ, इसका भी जायजा लेना चाहिए। इस शताब्दी के हिन्दी साहित्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसने क्रमश अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र अर्जित करने का प्रयास किया है। यह प्रयास स्वय म कोई दोष नहीं था। आरम्भ मे हिन्दी कविता मे अन्तर्राष्ट्रीयता मानवतावाद या विश्वबधुत्व के स्वप्न के साथ उदित हुई थी। तब कवि ने अपनी प्रातिभ कल्पना की ऊँचाइयो

से समुद्र पार के क्षितिजो की ओर निहारा था। भावक्रांति के अग्रदूत इन कवियो पर आप हाथी दांत की मीनार मे बस जाने का आरोप तो लगा सकते हैं परन्तु गैर ईमानदार अभिव्यक्ति का नही। उनके सामने कविता कविता के ही रूप मे आई, वक्तव्य के रूप मे नही। तदनन्तर आकाशचारिणी कविता को भूपथ-गामिनी बनाने के साथ वैज्ञानिकता और तज्जनित आधुनिकता को आत्मसात किया गया। अब अतर्राष्ट्रीयता और हावी होने लगी थी। यहाँ तक कि इसके मोह मे कवि अपने अनुभव की जमीन से ही कट गया। अब आधुनिक होना उतना महत्त्वपूर्ण नही रहा जितना आधुनिक दिखना। अब लोगो ने तरह-तरह के रंगीन लिबास आधुनिकता के नाम पर पहनने आरम्भ कर दिए। कविता मे आधुनिक एव अन्तर्राष्ट्रीय दिखने के लिए कुछ सरल सूत्र सहज ही मिल गए। आप परम्परा को नकार दीजिए, आप आधुनिक हो जाएँगे! छद को कोसिए आप आधुनिक हो जाएँगे! शालीन अनुभव एव अभिव्यक्ति से दूर रहिए, आप आधुनिक हो जाएँगे! आप बिना पढे विदेशी नामो को उछालिए आप आधुनिक हो जाएँगे! कितने कितने भ्रम पाल लिए थे इन आधुनिक कवियो ने और इनका सबसे भयानक भ्रम यह था कि अपनी जमीन से कट कर भी अन्तर्राष्ट्रीय हुआ जा सकता है। परिणाम? परिणाम था—आकाशबेल! और जब कविता आकाशबेल हो गई तो उसके द्वारा पाठक पाने की कामना आकाश कुसुम पाने की चाह के अतिरिक्त क्या हो सकती थी? दुर्भाग्य यही तक नही रुका। वाम और दक्षिण का ध्रुवीकरण बहुत तेजी से हुआ। आपकी कविता मे जनपक्षधरता आई नही कि झट से लेबल लग गया—कम्यूनिस्ट! तब नास्तिक तो आप होंगे ही। यदि आपने अपनी कविता मे जातीय सस्कारो को जगह देने की गलती कर दी तो बस आप हो गए साम्प्रदायिक! सी आई ए के एजेंट भी कहे जा सकते हैं। मतलब, आप अपने दिल से कुछ नही कहेंगे। आप या इनके साथ हैं, या उनके साथ। यानी आपकी कविता इस या उस दल का घोषणा-पत्र है। यार लोगो ने इस आफत से बचने के रास्ते भी निकाले। वे आधुनिक शिल्प का नकली मुलम्मा चढाकर भी सीधे रीतिकाल मे पहुँच गए। बहुत हुआ तो छायावाद का नया-सस्करण करने लगे या फिर ऐसी उलट बासियाँ लिख मारी कि बडे-बडे कबीर ताकते रह गए।

गनीमत यह है, इस या उस दल मे, इस या उस वाद मे, इस या उस धारा मे दो एक नाम ऐसे रहे, जिन्होंने कविता की पहचान को खोने नही दिया। यह स्थिति सुधर सकती थी, यदि हिन्दी कविता के निष्पक्ष आलोचको का अकाल न पडता। आलोचक कविता के गुण धर्मों की व्याख्या करे, स्तर निर्धारण करे, वर्तमान कविता की प्रवृत्तियो का आकलन कर उसके भविष्य की रूपरेखा बत

जाए—यह तो समझ मे आता है परन्तु वह किसी रचना धारा को पूर्णत नकार दे और वह भी छदयुक्तता अथवा छदहीनता का आधार बनाकर—साहित्य के लिए इससे भयानक षडयत्र नही हो सकता। और हिन्दी आलोचना मे यह षडयत्र गत तीस वर्षों से चल रहा है। यदि पिछले तीस वर्षों के हिन्दी गीत का मूल्याकन किया जाए तो यह बात साफ है कि उसकी अवहेलना के लिए समीक्षक के पास सवेदना अथवा शिल्प को लेकर कोई भी आधार नही है। यह गीत शेष सामयिक काव्य धाराओ से युगबोध, आधुनिकता, जनपक्षधरता, तथा नवीन शिल्प प्रयोग के धनात्मक मूल्यो के किसी धरातल पर पीछे नही है। परन्तु आलोचक के लिए उसे फासी पर लटकाने के लिए उसका एक ही अपराध पर्याप्त है और वह यह कि उसने छद को क्या अपनाया है ? गत तीस वर्षों मे छदोबद्ध प्रबध, प्रगीत अथवा गीत (जिसे नवगीत कहना पडा है) की चर्चा, उद्धरण या मूल्याकन केवल वही हुआ है, जहा समीक्षा इन्ही काव्यरूपो पर केन्द्रित थी किन्तु जब जब कविता का समग्र मूल्याकन किया गया है, गीत या अन्य छदोबद्ध काव्य को अस्पृश्य एव त्याज्य माना गया है। आज हिंदी कविता का समीक्षक साठोत्तरी कविता, वतमान कविता, सामयिक कविता आदि शीर्षको से निबध लिखेगा। इधर उधर की चर्चा के बाद गद्यनुमा कविता के खोखलेपन पर आएगा। कविता की निकृष्टता का रोना रोएगा, पर विपुल एव काव्यमूल्यों से समृद्ध नवगीत की ओर भूलकर भी नही ताकेगा।

ऊपर कोष्ठक मे लिखा गया है—'जिसे नवगीत कहना पडा है'। कुछ कवियो एव समीक्षको को इस शब्द के प्रयोग पर गम्भीर आपत्ति है। उनका कहना है—भला गीत ही क्या पर्याप्त नही है, जो आप नवगीत कह रहे हैं ? आपत्तिकर्त्ताओ मे से कुछ की सरल हृदयता एव निश्छलता सदेहातीत है और उनसे बहुत दूर तक हम भी सहमत हैं पर कुछ के शातिराना इरादे भी इस कथन के पीछे है। वास्तविकता यह है कि नवगीत के नाम के प्रचार प्रसार का कारण एक अमूल्याकित धारा की अपनी पहचान बनाने की कोशिश है। समीक्षकजी, गीत को तो आपने अनेक गर्हित विशेषण दे डाले और उसमें पहले से ही कुछ ऐसी विशेषताओ का परिगणन कर लिया जिनका आज के गीत में कोई अस्तित्व ही नही है। जब इस नाम के खाते में आपने व गुण पहले ही डाल रखे हैं जिनका उसमें अस्तित्व ही नही, तब यह धारा दूसरो के दूषण का ढोन की अपेक्षा अपना नया नामकरण क्यो न कर लें ! आप इसे कविता भी नहीं कहेंगे, क्याकि छदोबद्ध रचना को तो आप रचना मानते ही नही। तो फिर ये रचनाएँ किस नाम से जानी जाएँ। ये जिदा हैं तो इन्हे नाम भी चाहिए क्योकि आपके द्वारा इन पर मिट्टी डाल देने से तो इतिहास इन्हें मरने नहीं देगा।

बात बहुत साफ है। कविता-यात्रा की निरन्तरता अब उतनी निरापद एव आश्वस्तिदायक नही रही। एक तो समूचा परिवेश जसे उसके प्रतिकूल नखदन्त पैने किए खडा है, दूसरे छद्म कविता के काँटो ने उसकी देह छलनी कर दी है, तीसरे दिङमूढ समीक्षक की आरी से उसका पोर पोर चीरा जा रहा है। यदि कविता की अस्मिता बनाए रखना है तो कवि को अराजकता और स्वच्छदता में अन्तर समझना होगा। कविता की पहचान को बरकरार रखना होगा। क्या पहचान है कविता की? कवि सवेदना के धरातल पर मनुष्य से जुडे मनुष्य मनुष्य को जोडे, यही तो कविता है। कविता व्यक्ति को अपने भीतर बन्द नही करती। वह तो उसे समूचे बाहर की ओर उन्मुख करती है। कविता प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष—किसी भी रूप में पलायन नही है। कविता लडती तो है पर वह हिंसा नही करती अपितु वह हिंसा और घृणा का प्रेम से प्रतिकार करती है। आज दलित, पीडित, शोषित, अपमानित, प्रताडित और हीन का राजनैतिक उपयोग तो सभी कर रहे है, कविता को तो इनकी आत्मा की आवाज बनना है। पर कैसी आवाज? अवश्य ही कविता की आवाज में 'वाग्यसम्पक्ति' रहेगी और यह नही होगा तो कविता हीनकाति एव प्रभावरहित होकर मर जाएगी। कविता की मौत कवि की मौत स भयानक होगी इसमें सदेह नही।

मेरे प्रथम सकलन 'गीत पव आया है' में सन'81 तक की रचनाएँ सकलित थी। पख होते हैं समय के सग्रह में अधिकतर गीत सन'82 और 85 के बीच के लिखे हुए हैं। इस सकलन की प्राय सभी रचनाएँ पत्र पत्रिकाओ में प्रकाशित एव आकाशवाणी से प्रसारित हो चुकी हैं। तो भी सकलन रूप में इनकी समग्र प्रस्तुति का अपना महत्त्व है ऐसा मैं मानता हू।

मेरा यह दावा नही है कि 'पख होते हैं समय के' की रचनाएँ कविता की सही पहचान बनाती ही हैं। इसका निर्णय देने का मुझे अधिकार भी नही है। इसका अतिम निर्णय तो पाठक ही करेंगे, मैं तो यह कही सकता हूँ कि चुनौती भरे परिवेश से मैंने आँखें नही चुराई हैं। मैंने अपनी सम्पूर्ण क्षमताओ के साथ अपने काव्यादर्श को उनमें प्रेषित करने का प्रयास तो किया ही है। यो अपनी क्षमताओ की सीमाओ से मैं अपरिचित नही हूँ।

यो तो आज 'कर ल सूधि सराहि कै रहि रहत हैं मौन' का युग है तथापि यदि किसी पाठक के हृदय पर ये रचनाएँ यत्किचित भी प्रभाव छोडती हैं और उसकी प्रतिक्रिया प्राप्त होती है तो अवश्य ही मेरी आगामी काव्य-यात्रा का वह सबसे बडा प्रेरणा स्रोत होगी।

मैं अपनी काव्य-यात्रा में अपनी अग्रज पीढ़ी के जिन महारथियों से निरंतर स्नेह एवं प्रेरणा प्राप्त करता रहा हूँ, उनमें आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री, पंडित रामेश्वर शुक्ल अंचल, श्री वीरेन्द्र मिश्र एवं श्री देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' का नाम उल्लेख्य है। अवश्य ही मेरे संकलन के प्रकाशन से इन गुरुजनों को प्रसन्नता होगी।

मैं डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा का आभारी हूँ कि उन्होंने इस संकलन की पांडुलिपि को मनोयोगपूर्वक पढ़कर इस पर अपना विस्तृत अभिमत दिया।

प्रीति मंदिर प्रकाशन के स्वत्वाधिकारियों का आभार ज्ञापित करना मेरा कर्तव्य है क्योंकि उन्होंने इस किरणों वाली विधा को भी तत्परता से एवं रुचि पूर्वक प्रकाशित किया है।

इत्यलम्

बी 22/ [illegible]
पालम नई दिल्ली 110045

राजेन्द्र गौतम
बसंत पंचमी संवत 2046

ज्योतिपखी गीत

लय ही वह मूल तत्त्व है जो हज़ारों वर्षों से कविता को गद्य से अलगाता आया है। लय के विभिन्न साँचे ही भिन्न भिन्न छन्दों के नामों से अभिहित किये जाते हैं। यह ठीक है कि वैचारिक गद्य भावात्मक गद्य से भिन्न होता है, किन्तु न वैचारिक गद्य कविता है और न ही भावात्मक गद्य। गद्य अपने हर रूप रंग में गद्य ही रहता है। कविता कविता है और गद्य गद्य। इस मोटे से तथ्य या सत्य को ईमानदारी से स्वीकारना होगा। जिस मानसिकता से गद्य जन्म लेता है, कविता उससे भिन्न मानसिकता की सृष्टि है। कविता में घटित अनुभूति का जन्म ही लयात्मक या छन्दोबद्ध रूप में होना है। मुक्तछन्द कविता भी छन्द से मुक्त नहीं होती। मुक्तछन्द कविता के पुरोधा 'निराला' ने 'परिमल' की भूमिका में स्पष्ट लिखा है कि 'मुक्तछन्द कविता' की रचना वही कवि कर सकता है जिसका छन्द पर अच्छा अधिकार हो। मुक्तछन्द कविता के समर्थक टी० एस० ऐलियट की मान्यता है कि स्वच्छन्दतम कविता में भी कोई न कोई छन्द समाहित रहता है तथा अयोग्य और प्रतिभाहीन रचनाकार ही छन्द या लय से मुक्ति की हिमायत करते हैं। जनतन्त्र के नाम पर टूटती हुई मर्यादाओं के इस युग में छन्द से मुक्ति को एक सुविधा के रूप में भोगा जा रहा है। इस सुविधा को भोगने वालों में सबसे बडी संख्या उन लोगों की है जो श्रम, साधना संघर्ष के नारे उछालने की कला में दक्ष हैं और उत्कृष्ट गीतकारों का शिल्पधर्मी, रसलालुप लिजलिजी अनुभूतियों के वाहक तथा सामन्ती प्रवत्तियों से ग्रस्त घोषित करते नहीं थकते।

आधुनिक युग में जब जीवन मूल्यों और कला मूल्यों का क्रमश विघटन होता जा रहा है और कविता की अस्मिता संकटग्रस्त है श्री राजेन्द्र गौतम द्वारा रचित 'पंख होते हैं समय के' शीर्षक गीत संग्रह निश्चय ही कविता के अँधेरे कुटीर में छन्दों के दीपक जलाने के संकल्प का उद्घोष करता है। श्री गौतम ने मुक्त गद्य की मीनारों पर आसीन उन कीर्तिकामी, सुविधाभोगी रचनाकारों पर बहुत ही सटीक कटाक्ष किया है जो गद्य की पंक्तियों को तोडकर उन्हें सीढीदार रूप में प्रस्तुत करने में ही कवि कर्म की इतिश्री समझते हैं और कविता के नाम पर गद्य की खपत करके भी न केवल धोखाधडी के अपराध में मुक्त रहते हैं वरन् अपने दलगत प्रचार और प्रभाव के बल पर अभिनन्दित भी होते हैं। श्री राजेन्द्र गौतम

की पंक्तियाँ कितनी प्रामाणिक और धारदार हैं —

तुम तो बैठे हो मुक्त गद्य की मीनारों पर जाकर
पर झोपड़ियों मे छंदों के हम दीप जलाते हैं।

या तो झोपड़ियों और उनमे जीवन बिताने वालों के प्रति सहानुभूति दिखाने का ठेका एक विशेष वर्ग ने ले रखा है और अब इस ठेकेदारी ने साम्प्रदायिक रूप ले लिया है, तथापि श्री गौतम की रचनाएँ आम आदमी के दर्द से स्पंदित और आन्दोलित हैं। उनके गीतों का शिल्प पीडित शोषित जनता की आहत संवेदना से जन्मा है। उनकी संवेदना जन मानस की पीड़ा से विद्ध है "हम टायर के जूतों से छीजे संवेदन पहने हैं।" श्री गौतम छंदों के दीप जलाकर कुंकुमरची रागिनी गुंजित करके जन अभिषेक की अधूरी कथा को पूरी करने और गाँव भर के अजाने दर्द से जन जन को अवगत कराने मे ही अपनी सर्जना की सच्ची सार्थकता मानते हैं —

छंद के दीपक
नहीं अब तक जले
सरिता तरंगों पर

रागिनी कुंकुमरची
गूंजी नहीं
क्यों सब दिगन्तों से

क्या जन-अभिषेक की
हर बार क्यों रहती अधूरी
क्या त्वचा संकल्प की छिदती रहेगी
गरल दन्तों से

क्या अजाना ही रहेगा
गाँव भर का दर्द
सिसकते सीवान है—
जिसको रहे गुहरा।

श्री गजेन्द्र गौतम के गीतों की सबसे अधिक उल्लेखनीय विशेषता है उनमे निहित बोध की वह गहराई जो मानव प्रकृति और मानवेतर प्रकृति को एक ही संवेदना-सूत्र मे गूँथ देती है। जिस प्रकार मानवीय पीड़ा से कवि के छन्द फूटते हैं उसी प्रकार प्रकृति की पीड़ा के कारण वन के पोर-पोर मे नव छन्दों के पत्ते

फूट पडते हैं—

चुप्पी के दशो से ऐंठे,
चीडो के ये गात।
यन के पोर पोर मे फूटे,
नव छन्दो के पात ।

कवि ने प्राकृतिक सन्दर्भों और मानवीय सवेदनाओ के मिश्रण से एक अनूठी अभिव्यक्ति पद्धति विकसित की है। ऐसे स्थलो पर विचलन, मानवीकरण जैसी भाषिक एव भावात्मक क्षमताओ का सहज समन्वय हो गया है —

सन्नाटा
नुक्कड पर बठा
अपना सिर धुनता
बस्ती मे घुसते
जगल की गुर्राहट सुनता
सडको पर
लेटे सायो को
कफर्यू रहा कुचल।

बस्ती मे प्रवेश करते जगल (पाशविक हिंसता) की गुर्राहट के आतक से सन्नाटे का छाना और उसका विवशतावश सिर धुनना कितना साथक है ? आतक के कारण सभी लोग घरो मे बन्द हैं। सडको पर सिफ वक्षा और मकानो के साये हैं जिन्ह कफर्यू वाले बन्दूकधारी सिपाहियो के घोडे अपनी टापो से कुचल रहे हैं। सन्दभ और सवेदना के सयोजन से एक अनूठे बिम्ब की सष्टि हुई है।

श्री राजेन्द्र गौतम की सवेदनाएँ गहन और जीवन्त हैं तथा शिल्प भाषिक क्षमता के विविध आयामो के सयोजन स निर्मित है। भाषिक क्षमता का प्रबलतम रूप है सादृश्य-विधान। इस दृष्टि से श्री गौतम को विरल सफलता मिली है। आतक और हिंसा के परिवेश मे रिश्तेदार भी सहायता करन से मुख मोड लेते हैं। आत्मीयता के तल से हिल उठे रिश्ता के सन्दभ को दहलते पुलो के प्रसग से जोडना चयन और सयोजन की मौलिकता को प्रमाणित करता है —

बारूदी हलचल
रिश्तों के पुल भी
उठे दहल।

सामान्यत प्रकृति के प्रसगो का उपयोग मानवीय सवेदनाओ की अभिव्यक्ति को उत्कर्ष प्रदान करने की दृष्टि से किया जाता है, किन्तु श्री गौतम के अनेक गीतो मे प्राकृतिक परिवेश के साथ मानवीय परिवेश का इतना घनिष्ठ तादात्म्य है कि प्राकृतिक परिवेश भी मानवीय सकटो सत्रासो से युक्त एक नगरीय जीवन की प्रामाणिक प्रतिलिपि प्रतीत होता है —

एक दहशत से घिरा
जगल खडा खामोश
पेड कब तक
यहा कायम रख सकेंगे होश
रोज जिन्दा देह कटती है
बन रह शहतीर।
रात सी लम्बी गुफाओ मे
किरण की
सड रही है लाश।

श्री गौतम का अप्रस्तुत विधान बहुत मौलिक और प्रभावशाली है। अप्रस्तुत विधान मे कवि की अदभुत अनुस धान क्षमता और उद्‌भावना शक्ति का परिचय मिलता है। वक्त का दूर तक फैले हुए उस जाल के रूप म रचना जिसम फँसी सध्या रूपी हिरनी विवश कसमसाती रहती है निश्चय ही गहरी और सूक्ष्म अन्तदृष्टि की अपेक्षा करता है —

वक्त है या जाल कोई
दूर तक फला
साझ की हिरनी
विवश जिसमे कसमसाती है।

यह सादृश्य विधान अक्सर उपमा, रूपक आदि सादृश्यमूलक अलकारो की सीमा लाँघकर प्रतीको के रूप म अधिक मार्मिक और व्यजक रूप म प्रयुक्त हुआ है। कई स्थलो पर गहन अर्थों क जटिल बिम्बो की बुनावट क लिए जातीय अवचेतन मे अनुस्यूत मिथकीय स दर्भो को प्रतीक रूप म प्रयुक्त किया गया है। ऐसे बिम्बो की सम्प्रषणीयता बढ गयी है। मिथकीय सन्दर्भों क प्रतीकात्मक प्रयोगो की सरचना वाले बिम्बो की व्यजकता द्रष्टव्य है —

1 सिन्धु-मथन तो किया है,
देव असुरों ने यहाँ फिर

पर नहीं कोई बचा शिव,
जिसे विष युग का पचेगा,

2 सदा ही बनते रहे ह
लाख के घर तो
कब नहीं चौपड बिछी
इतिहास को छलने
प्राप्य लेकिन पार्थ को
तब ही यहाँ मिलता,
जब धधक गाण्डीव से
ज्वाला लगे जलने।

कवि न अपनी अभिव्यजना की क्षमता म वद्धि करने के लिए सादृश्य विधान मानवीकरण प्रतीक योजना के साथ ही भाषिक विचलन का भी उपयोग किया है। जब एक सन्दभ की शब्दावली को वहा से उठाकर दूसरे सन्दभ के साथ जोड दिया जाता है तो इस प्रकार के सयोजन मे नयी भाषिक सरचना तयार होती है जो अपनी व्यजकता मे बेजोड होती है। 'बेशम मौसम हर गली की आबरू लूटे" पक्ति मे बेशम विशेषण और 'आबरू सना का प्रयोग विचलन का उदाहरण प्रस्तुत करता है। मौसम को बेशम कहकर परिवेश म विचरते असामाजिक तत्त्व को लक्षित किया गया है और गली की आबरू के लूट जाने के उल्लेख मे गली म रहने या विचरने वाली महिलाओ की असामाजिक तत्वो द्वारा लूटी जा रही लाज की ओर मार्मिक सकेत किया गया है। निम्नलिखित अवतरण म ढोने का काम मुस्कानो से कराया गया है। ऐसा करने से मुस्कान का मानवीकरण तो हो ही गया है, साथ ही ढोने की क्रिया स जुडकर मुस्कान के सामान्य अथ म भी नयी भगिमा आ गयी है। सामान्यत मुक्त मुस्कानें उल्लास और आत्मीयता व्यक्त करती है, किन्तु अब व अपना नैसर्गिक काय न करके आत्मीयता और उल्लास के भावो के अभिनय को ढोने के कारण अपना छद्म रूप ही प्रकट करती हैं। पहचानो का मछली की तरह फिसलना भी भाषिक विचलन का नमूना है —

चिकनी मछली सी मुट्ठी से,
फिसल गयी ह पहचानें।
अब तो अभिनय ही ढोती ह,
नकली फीकी मुस्कानें।

श्री गौतम के गीत आधुनिक युग बोध की जटिलताओं और विषमताओ के

मध्य से उभरे हैं। इनमें अनुभूतियाँ चिन्तन की ऊबड़ खाबड़, पथरीली घाटियां से गुजरी हैं। इन गीतों की अनुभूतियाँ गहन और शिल्प प्रौढ़ तथा स्तरीय है। अनुभूतिगत उत्कर्ष और शिल्पगत गठन तथा कसाव के समन्वय से अनूठे गीतों का उदय हुआ है। गहन अनुभूतियों की प्रभावशाली अभिव्यक्ति के लिए विलम्बित गति वाले छन्दों का प्रयोग सफलतापूर्वक किया गया है। यदि श्री गौतम की साधना इसी प्रकार सारस्वत निष्ठा के साथ ज्योतिपखी गीतों की रचना में सतत अग्रसर रही तो कविता का परिवेश इतना निराशाजनक नहीं रहेगा तथा उन्हें विवशतावश यह नहीं लिखना पड़ेगा —

ज्योतिपखी गीत तो सब
सो गये हैं मौन
दिशाएँ धूमिल सभी
काजल नहीं कुहरा।

मैं 'पंख होते हैं समय के' गीत-संग्रह के प्रकाशन के उपलक्ष्य में श्री राजेन्द्र गौतम को हार्दिक साधुवाद और बधाइयाँ देता हूँ और कामना करता हूँ कि वे क्षयोन्मुखी, गद्यग्रस्त तथाकथित कविता के इस दौर में अपनी सृजनात्मक ऊर्जा का इसी प्रकार सही दिशा में उपयोग करते हुए ऐसे ही उत्कृष्ट गीतों की सृष्टि करते रहेंगे।

डॉ० हरिश्चन्द्र वर्मा
एम०ए०, पीएच०डी० (हिन्दी संस्कृत), डी०लिट०
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
डीन, मानविकी संकाय,
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक

अनुक्रम

होरी के खेतो में

गीतो की थापो के
पडते ही टूटे हैं
मौसम की चुप्पी के
जग लगे ये ताले।

रेशमी हवाओ का यह भी क्या छूना था
छदो की गध भरी जहाँ सिफ सूना था
पोर-पोर शीशम का लतरो की बाँहो मे
ऊखडी-सी साँसो का वेग हुआ दूना था
झन-झन-झन बजती हैं
'सोना' की झाँझर-सी
'होरी' के खेतो मे
अब गेहूँ की बालें।

मेढो से आती है, जाती है, गाती है
धूप बहुत अल्हड है ठहर कहाँ पाती है
शहतूतो की गदराई शाखो को चुपके से
नटखट अगुलियो से छेड-छेड जाती है
चैत लगे धनिया' भी
गुरबत आफत भूली
साहू के भी कल पर
गए तकाजे टाले।

नवभारत (भोपाल)

हम दीप जलाते हैं

यह रोडे-ककड-सा जो कुछ अटपटा सुनाते हैं
गीतो की इससे नई एक हम सडक बनाते हैं।

फिर सुविधाओ के रथ पर चढकर
आएँ आप मजे से
फिर जयजयकारो के मुखडे हो
दोनो ओर सजे-से
हम टायर के जूतो-से छीजे सवेदन पहने हैं
आक्रोशी मुद्रा तारकोल भी हमी बिछाते हैं।

हम हैं कविता के राजपथिक कब?
हम तो अत्यज हैं
स्वागत मे रोज बिछा करते हैं
हम केवल रज हैं
लेकिन जितना भी डामर है इस पथ पर बिछा हुआ
खुद रक्त-स्वेद अपना ही इसमे रोज मिलाते हैं।

हम जिन हाथो को किए हुए हैं
पीछे सकुचा कर
इनकी रिसती अगुलियो ने ही
तोडे हैं पत्थर
तुम तो बैठे हो मुक्त गद्य की मीनारो पर जाकर
पर झोपडियो मे छदो के हम दीप जलाते हैं।

(शिक्षा-डाइजेस्ट अप्रैल 198

पिता सरीखे गाँव

तुम भी कितने बदल गए
ओ, पिता सरीखे गाँव।
परम्पराओं - सा
बरगद का
कटा हुआ यह तन
बो देता है रोम - रोम मे
बेचैनी सिहरन
तभी तुम्हारी ओर उठे ये
ठिठके रहते पाँव।
जिसकी वत्सलता मे
डूबे
कभी सभी सन्त्रास
पच्छिम वाले उस पोखर की
सडती है अब लाश
किसमे छोड़ूँ सपनो वाली
कागज की यह नाव।
इस नक्शे से
मिटा दिया है
किसने मेरा घर
बेखटके क्यो घूम रहा है
एक बनैला डर
मंदिर वाली इमली की भी
घायल है अब छाँव।

(धर्मयुग 15 1 1984)

रिश्ते रेत हुए

कहाँ तलाशें
इन ठूँठो म
अमराई।

लाल-लाल
कोपल-से
रिश्ते रेत हुए
बाबा-से
वट-पीपल
खखर प्रेत हुए
कहाँ तलाशें
दोपहरी मे
परछाई।

दबी कही
रेती मे
शायद भोज-कथा
अब न अलावो पर
खुलती है
छिपी व्यथा
कहाँ तलाशें
अपनापे की
गरमाई।

झुकी नहीं
आँगन में
    मइया-सी छाया
अब छतनार—
नीम की
    चिरी पड़ी काया
कहाँ तलाशें
कचनारों की
        तरुणाई।

(धर्मयुग 12-5-1985

जंगली नदी

इस वादल का जल
काजल - भर
ज्योतित रेख नही कोई।

इसके गर्जन से
थर्राता
चिंताकुल बूढा आकाश
लादे है
यह वसुधरा भी
छाती पर केवल सत्रास

अँधियारे
सब गलियारे हैं
दीपित लेख नही कोई।

कीच भरी
धँसती आँखो - सी
टपक रही हैं खपरैलें

मन के
सब विश्वास डुबाए
फैले जोहड मटमैले

आश्वासन के
दूर क्षितिज तक
अब आलेख नही कोई।

अपने संग ले गई
बहा कर
सपने सब जंगली नदी
खड़े तटों पर
बचे लोग
हैं देख रहे डूबती सदी
सुनते भर हैं
गांव यहां था
पाया देख नहीं कोई।

(नई दुनिया दीपा० विशेषांक, 1983)

कैसे गगाजल पीते

रेत के बने पुल तो वह ही जाने थे
रोज-रोज अब हम दुर्घटनाएँ जीते।

उस पर ही वढ आया
यह नारो का रथ
दलदली घाटियो तक
जाता था जो पथ
हार चुके अब तो हम कीचड उलीचते
इस यात्रा मे आगे जाने क्या बीते।

यह जो दालानो तक
बीहड उग आया
किस से पूछें—इसको
किसने सरसाया
गलियो तक आहट कब जिंदा जा पाती
खिडकी के खुलते ही गुर्राते चीते।

जिस समय-सारथी को
अपना सब सौंपा
उसने ही अब हम पर
निर्वासन थोपा
मानसरोवर मे ही हो जब जहर घुला
कैसे तब अजलीभर गगाजल पीते।

(गगा मई, 1

हम लूले लँगडे

वे तो बैठे ओढे
शाश्वत मुदाएँ
हमको प्रतिदिन बींधे
खबरो के भाले।

उनके अभिनदन को
लिए खडो माला
रत्न जडे क्षितिजो पर
उत्सुक युवा सदी
कहाँ लाघ पाएँग
हम लूले लगडे
हर-हर कर बहती जो
दहकी रक्त-नदी
राजपथो को चौडा
उनको करना है
बिछना है हमको
बन डामर के डाले।

कब तक उनके आग
जा हम मिमियाएँ
शेरो के आगे ज्यो
डरी-डरी भेडें
इतिहासो की नीव
उन्हे तो रखनी है

उनको फुरसत कहाँ कि—
हम उनको छेड़ें
छोटे - छोटे दुख हम
होठ भीच सहलें
राहो मे फिर होगे
रेशम के गाले ।

(नवान्न प्रवेशाक)

दहशत से घिरा जगल

रध्र कोई अब नही दिखता
यो अडी प्राचीर।

आतिशी सपने
भला कैसे यहाँ पर सिर उठाएँ
पीस देती हैं उन्हे
काली अँधेरो की शिलाएँ
व्यर्थ जाते फलक टूटे
रोशनी के तीर।

एक दहशत से घिरा
जगल खडा खामोश
पेड कब तक—
यहाँ कायम रख सकेंगे होश
रोज जिंदा देह कटती है
बन रहे शहतीर।

रात सी लम्बी गुफाओ मे
किरण की
सड रही है लाश
इस शिकजे मे फँसे
वातावरण की
घुट रही है साँस
वक्त का नाखून—
हिरनो की त्वचा देता चीर।

(अवकाश 15-4-1985)

कुहरा छाया है

बूढ़े बरगद पर छाया है
पूरी बस्ती पर छाया है
कुहरा छाया है।

झुनिया ने था रखा
थान पर जो छोटा दियरा
चिरता कितना उससे
तम का पाथर का हियरा
टूटे छप्पर पर छाया है
सूने आँगन मे छाया है
कुहरा छाया है।

राजपथो पर तो दीपो की
मालाएँ होगी
अधकार से अनजानी
मधुशालाएँ होगी
धूसर पगडडो पर लेकिन
गिद्धो के पखो सा काला
कुहरा छाया है।

शीश महल मे
रहे देख जो महफिल का मुजरा
नही पूछते इस रधिया से—
'दिन कैसे गुजरा'
भारी पलको पर छाया है
धँसती आँखो पर छाया है
कुहरा छाया है।

(बेला)

प्रत्यंचित दिशाएँ

यह मौसम तो
आखेटक है
सभी दिशाएँ प्रत्यंचित।

हवा यहाँ पर
सुबह सुबह ही
पजो मे आ कस लेती
दिवस शशक की
खाल नोचती
दाढो मे वह भर लेती
रोज-रोज की
दुर्घटना से
सारा जगल आशकित।

टूट चुकी है
जाने कब को
अभयदान की परम्परा
त्रस्त रहेगी
कालिदास ओ !
कब तक यह गोरूप धरा
रघुवशी नायक—
तो खुद ही
भटक रह हैं भ्रमित चकित।

चीतो की
आंखो से तो मृग
शायद छिप भी जाएँगे
इतने नरभक्षी
झाडो से
पर कब तक बच पाएँगे
इनके तृण-तृण मे—
सम्मोहन
पात-पात है अभिमन्त्रित।

(अवकाश। 15-7-1986)

द्वार बद हैं

कहर लदे भूरे बादल को
लाईं जो पश्चिम से
वर्छी सी चुभती हैं वे
हिमगधी सर्द हवाएँ।

सद्य जात सपनो के तन की
इन रोमिल पाखो को
कुटिल भवो वाला
सशय सा
कुहरा कुतर रहा है
दबा चोच मे उड जाएगा
फिर खाकी क्षितिजो को
धूसर डैने फला कर
नभ नीचे उतर रहा है
क्या अजाम घोसलो का
तूफानो मे होता है
चीडो के ठिठुरे तन कैसे
चिडियो को बतलाएँ।

सन्नाटे को तोड रहा है
खाँसी का ही ठसका
बूढी बस्ती की ठठरी की
हर पसली करक रही
सूरज का स्वागत करने को

जाने कौन बचेगा
बुझे अलावो के पास
मौत है—
गुपचुप सरक रही
पता नही कब तक नुचना है
व्यर्थ यहाँ गिद्धो से
द्वार बद है सभी स्वर्ग के
आग कहाँ से लाएँ।

(दैनिक हिंदुस्तान 25-12 83

देश और काल

साफ लिख दी 'काल' ने है यह इबारत
'देश' की करते रहे हैं वे तिजारत।

चौक पर नीलाम गैरत की जिन्होने
वही जलसे मे किए हैं अब सदारत।

जिस किसी की आप भी टोपी उछालें
आप मे हो गिरगिटों-सी गर महारत।

शहर कब्रिस्तान मे तब्दील तब से
हो गई जबसे सफल उनकी शरारत।

जलजला कोई उफक से फिर उठेगा
फिर हवाओ मे लगी होने हरारत।

हमारे खून की फितरत

हौसला कैसे हुआ है इस छदामी का
कह रहा जो रहम को पट्टा गुलामी का।

है नही डँसना हमारे खून की फितरत
हमे तो रखना पडा सम्मान थामी का।

यो छिपा सकते नही थे इन नखो को हम
मिल गया अच्छा सहारा रामनामी का।

लूट मे से आपको भी क्यो न दें हिस्सा
काम हम करते भला कैसे हरामी का।

और भी हकदार यो तो कुर्सियो के थे
पर सिला कुछ तो मिला हमको सलामी का।

गमज़दा गज़ल

जब हदों से गुज़र गया पानी
तब सभी का उतर गया पानी।

रेत पर गमजदा गजल लिखकर
फिर इधर या उधर गया पानी।

क्या तलाशें निशां सफीनों के
जब नदी घाट भर गया पानी।

थी अभी तक बची कहीं गैरत
आँख का आज मर गया पानी।

रात से ही मची हुई भगदड़
बस्तियों में जिधर गया पानी।

अवकाश 16-31 मार्च 1984

छिली गाछों की त्वचाएँ

झूल ती
खामोशियों की लाश
उफ! आकाश की कमजोर बाहों में।
इस कदर
हालात ये अब
गेज बनते जा रहे हैं
आपके ही दोस्त
आप अपने मन मुताबिक
माँग ले आकर
यहाँ पर आदमी का गोश्त
बस्तियाँ—
तब्दील होती जा रही हैं
आज फिर से कत्लगाहों में।
एक बारूदी धुँए की
स्याह चादर ओढ
लेटी गमजदा हर खूट
था बगीचा कल जहाँ पर
अब वहाँ—
झुलसे हुए
दो चार ही हैं ठूंठ
हाथ बाँधे
आ गए सब कायदे
संगीन की वहशी पनाहों में।

छिली गाछो की त्वचाएँ
टीसते हैं
हर घडी अब घाव खेतो के
क्षितिज के मैले कँगूरो से
उतर आते
पख फैला
गीध प्रेतो-से
रात हँसती घोप चाकू
वक्त की
धुँधली हुई नमतर निगाहो मे।

(दैनिक भास्कर 15-6-1986)

बारूदी हलचल

गूँगी दीवारो के पीछे
बडी चहल पहल।

सन्नाटा
नुक्कड पर बैठा
सिर अपना धुनता
बस्ती मे घुसते
जगल की गुर्राहट सुनता
सडको पर
लेटे सायो को
कर्फ्यू रहा कुचल।

जिसे ढके थी
दोपहरी की
मटमैली चादर
उसका तो कल
कत्ल हो गया
सोया कहाँ शहर
पाक-गली—
चौराहो पर
अब कुत्ते रहे टहल।

अपने ही घर मे
सगीनें जब दहशत बोती
डरी-डरी हिरनी-सी
मौसम की
आँखें रोती
बारूदी हलचल
रिश्तो के पुल भी
उठे दहल।

(मधुमती सितम्बर 1988)

यो लिखा है

अखबार है यह—
या कि नगा तार
बिजली का?

पूरा शहर ही मर गया
घुट स्याह नफरत के धुंए से
यो लिखा है
मुखपृष्ठ से चलकर गई
परिशिष्ट तक
इन अग्निकाडो की कथा है
फिर जल गया दामन
किसी लाचार तितली का।

करुणा घिरी अधो गलो मे
थी अँधेरे की लगी
कब से जहा घातें
कुचला गया विश्वास का तन
वक्त के चक्के तले
चिथडे हुई आँतें
मुश्किल हुआ है रोकना
इस बार मितलो का।

आंधी उतर गिद्धो सरीखी
रेत हर दालान मे
छितरा गई है
बाढ आदमखोर चीते सी
घुसेगी बस्तियो मे
खबर मौसम की यही है
फिर सतह पर रक्त है
बीमार मछली का।

(नई दुनिया 10 3-1985)

अँधेर नगरी चौपट राजा

मिटने लगा है फर्क—
क्यो जगल नगर घर मे।

हर ओर जलता दाह है
उठते बगूले हैं
है कौन सा कोना यहाँ
जो चैन देता हो
लावा लगा चलने
गगन छूने लगी लपटे
पल कौन-सा ऐसा
नही जो जानलेवा हो
जब भी घिरे हैं मेघ
करकापात होता है
क्या बूद भी जल की नही
इस क्रुद्ध अम्बर मे।

इन्सान छिप कर भी
यहाँ पर रह नही सकता
हर ओर आदमखोर
चीते बाघ रहते ह
कैसे भला कोई यहाँ
निश्चिन्त हो घूमे
हर झाड मे
दुबके विषैले नाग रहते हैं

बेशर्म मौसम
हर गली की आबरू लूटे
बिकते शहर-काजी
    बनी है चोर नाजिर मे।

    हर शाख पर फन तानते हैं
    यो यहाँ काँटे
    सीचा गया ज्यो जहर से
        उद्यान यह सारा
    तन की नही कुछ बात
    है कीलित यहाँ मन भी
    बिखरी हुई है
        ओस भी बन प्राणहर पारा
चौपट हुई नगरी
अंधेरे राज मे ऐसे
खोने लगी पहचान
    हीरे और पत्थर मे।

(भास्कर 8-3-1987)

नक्शे पर आग

पूरे ही नक्शे पर फैली
धू-धू करती आग।

छेड रहे क्यो नीरो को
यदि रोम लगा भुनने
मस्त उसे तो रहने दो तुम
अपनी ही धुन मे
गम खून से
खेलो तुम भी
अब तो जी भर फाग।

उत्तर से
दक्षिण तक खिचती
लपटो की रेखा
पूर्व दिशा से
धुँआ उठा
फिर पश्चिम ने देखा
आदर्शों के शीश महल पर
मँडराते अब काग।

कोमल गाधारो के स्वर मे
गडती जाती फाँस
बारूदी साँपो ने डस ली
हर वासन्ती सास
कोपल-से
सम्बन्ध झुलसते
उमडा विष का झाग।

(दनिक जागरण)

प्यासी सगीन

करते हैं कुछ लोग
यहाँ पर
गिद्धो का आयात।

सिद्धान्तो की
लाशो का भी
कुछ तो हो उपयोग
मुश्किल से मिलते हैं ऐसे
सुधा-भोग-सयोग
बचे भेडियो की बस्ती मे
कैसे आदमजात।

भालो को
फिर भूख लगी है
फिर प्यासी सगीन
उन्मद 'हिंसा' का जीवन भी
खूब हुआ रगीन
नही निरामिष—
अब रहना है
खा - खा सूखे पात।

शेष रहेगी
इन डालो पर
अब कैसे हरियाली

सभी दिशाओं को डसती जब
दावानल - सी व्याली
संध्या—
आंतों की सौदागर
रक्त - सनो है प्रात।
(भास्कर : 26-7 1987)

कवि रामायण रचेगा

आग को देते हवा हो
कौन-सा फिर घर बचेगा।

फूट कर लावा घृणा का
लील लेगा क्या हरापन
फूल जलकर राख होंगे
और होंगे ठूठ उपवन
सिंधुमथन तो किया है
देव-असुरो ने यहाँ फिर
पर नही कोई बचा शिव
जिसे विष युग का पचेगा।

द्वेष की रख कर छुरी
चदन धरा की देह पर तुम
माँगते घायल पडी
माँ से वही हक नेह पर तुम
तुम महाभारत, उतारो
लाख चाहे इस जमी पर
किन्तु कवि तो आँसुओ से
करुण रामायण रचेगा।

(हरिगधा मार्च-अप्रैल, 1987)

पख छितरे मन्दिरों मे

व्यंजनाओं की खबर
किसको यहां होती
आज तो है काटता
पागल हुआ इतिवृत्त।

और कोई नाम
कैसे पा सके चाकू
बोलती जब सिर्फ अभिधा
तेज इसकी धार
इस गली मे चीर देगी
आयतों का तन
उस गली मे हो गई है
यह ऋचा के पार
पाल कर हैवानियत को
तख्त के नीचे
आदमी का खून पीकर
संत होते तृप्त।

पंख छितरे मंदिरों मे
उन कपोतों के
स्पर्श से जिसके
पुलकता था कभी आकाश
दूर पश्चिम से उतरते
टोल गिद्धों के

नोचने को बस्तियों की
स्याह होती लाश
सिसकती सुनसान मे
अब तो हवा घायल
इस बगीचे मे पडी
सब फूल कलियाँ ध्वस्त।

(दैनिक ट्रिब्यून : 9 12-1984)

पख छितरे मन्दिरो मे

व्यजनाओ की खबर
किसको यहाँ होती
आज तो है काटता
पागल हुआ इतिवृत्त।

और कोई नाम
कैसे पा सके चाकू
बोलती जब सिर्फ अभिधा
तेज इसकी धार
इस गली मे चीर देगी
आयतो का तन
उस गली मे हो गई है
यह ऋचा के पार
पाल कर हैवानियत को
तख्त के नीचे
आदमी का खून पीकर
सत होते तृप्त।

पख छितरे मदिरो मे
उन कपोतो के
स्पर्श से जिसके
पुलकता था कभी आकाश
दूर पश्चिम से उतरते
टोल गिद्धो के

नोचने को बस्तियों की
स्याह होती लाश
सिसकती सुनसान मे
अब तो हवा घायल
इस बगीचे मे पडी
सब फूल कलियाँ ध्वस्त।

(दैनिक ट्रिब्यून : 9-12-1984)

रिश्ते सभी घायल

सोख कर
सवेदना का जल
आग का खूनी समदर
दूर तक हुकार करता है

चुक गईं सभावनाएँ सब
निकल पाने की
दग्ध लपटो के मुहाने से
झुलसना केवल बदा है अब
कुछ नही होगा
व्यर्थ ही यो छटपटाने से
जो मछलियो से भरा था कल
ताल जाएगा वही मर
यहाँ लावा रोज झरता है।

सदली ठडी हवाओ के
काफिले को भी
यहाँ रेगिस्तान ने लूटा
इसलिए हर आख का सपना
चोट खाकर काच-सा टूटा
बालको सा सहमता जगल
खडा लोगो के रहम पर
आरियो से बहुत डरता है।

एक मीठी आँच होती है
अलावों की
बाँटती है—
जो कि अपनापन
वह लपट पर और होती है
फूल, कलियों, कोपलों का
लीलती जो तन
पडे हैं रिश्ते सभी घायल
जिस्म उनके
खून से तर
कौन लेकिन साँस भरता है।

(जीवन प्रभात आलोक अक, जन० 1988)

काजल नहीं कुहरा

क्षितिज पर दो
रश्मि की अब तो ऋचाएँ टाँक
हो गया गाढा
नदी के पाट पर कुहरा।

उठी चारो ओर
दीवारे अँधेरो की
बहुत ऊँची
क्या पता पूरी सदी ही
दबदबा जाए रसातल मे
वक्त की बूढी हथेली से
बिछलता सत्य पारे-सा
प्रगति यात्रा के कथानक
कैद हैं युग-बोध के छल मे
ज्योतिपखी गीत तो सब
सो रहे हैं मौन
दिशाएँ धूमिल सभी
काजल नही कुहरा।

सर्जना की थरथराती—
उँगलियो के पोर घायल
कौन आके
इन घरो के द्वार पर अब अल्पनाएँ
पाँव हो या पख
मजिल तो नही दिखती कही पर

नागपाशो मे
सभी जकडी हुई हैं कल्पनाएँ
देहरी पयरा गई
देखो दिए की बाट
अब उसी की मांग
सन्नाटा रहा दुहरा।

छद के दीपक नही
अब तक जले
सरिता-तरगो पर
रागिनी कुकुम-रची
गूंजी नही
क्यो सब दिगन्तो से
कथा जन-अभिषेक की
हर बार क्यो रहती अधूरी
क्या त्वचा सकल्प को छिदती] रहेगी
गरल दन्तो से
क्या अजाना ही रहेगा
गाँव भर का दर्द
सिसकते सीवान हैं—
जिसको रहे गुहरा।

(भास्कर दीपपर्व विशेषांक, 1987)

हड्डियाँ बारूद हो जाएँ

थाम लेंगे हाथ
जब जलती मशालो को
देख लेना तब लगेगी
आग पानी मे,

नम सपनो की त्वचा
जो नोचते पजे
भोथरे होगे वही
चट्टान से घिस कर
बहुत मुमकिन
थरथराए यह गगन सारा
हड्डियाँ बारूद हो जाएँ
सभी पिसकर

रोशनी की सुरगे
हमको बिछानी हैं
अँधेरा घुसपैठ करता
राजधानी मे ।

बँध सका दरिया कहाँ है—
आज तक उसमे
बर्फ की
जो एक ठडी कद होती है
लाजिमी है
पत्थरो का राह से हटना
सफर मे जब चाह
खुद मुस्तैद होती है

साहिलो तक कश्तियाँ
खुद ही चली आती
जोर होता है
इरादो की रवानी मे।

सदा ही बनते रहे हैं
लाख के घर तो
कब नहीं चौपड बिछी
इतिहास को छलने
प्राप्य लेकिन पार्थ को
तब ही यहाँ मिलता
जब धधक गाडीव से
ज्वाला लगे जलने
जब मुखौटे
नायको के उतर जाएँगे
रग आएगा तभी तो
इस कहानी मे।

(नई दुनिया दीपावली विशेषाक, 1988)

सर्जना की प्यास

चाँदनी की गंध से है
    भर गया आकाश।

अधलिखा जो गीत था
    कल मेज पर छोड़ा
    छंद उसमें जा सकेगा
        अब नया जोड़ा
हो गई इतनी युवा अब
    सर्जना की प्यास।

मौन के ही जो सगे थे
    होंठ वे
    फिर क्यों न हो वाचाल
कुमुदिनी सा ही खिला होगा
    कहो जब
    देह का छवि-ताल
आ जुटेगा सिलसिला
    सम्बोधनों का
        चुप्पियों के पास।
शब्द तो सब खो गए हैं
    रह गई केवल कहानी
    पास मेरे आ सटी जब
        कल्पना-सी रातरानी
सुन रहे कुछ कान
    कुछ बतिया रहे उच्छ्वास।

(पंजाब-सौरभ अक्तूबर, 1986)

ताल मे ऋचाएँ

पिघली हिम की श्वेत शिलाएं।
चुप्पी के दशो से
ऐंठे
चीडो के थे गात
वन के पोर-पोर मे फूटे
नवछदो के पात
लयवती फिर हुई हवाएं।

काल-रात्रि की
तमछाया के
मिटते चिह्न कुरूप
स्वस्ति-पाठ करती हो जैसे
घाटी की यह धूप
ताल-ताल मे खिली ऋचाएँ।

उन्मद कचनारो ने
ऐसा किया नियोजित पर्व
देह थिरकती है मौसम की
रोम-रोम गधर्व
गधवती सब हुई दिशाएँ।

(दैनिक हिन्दुस्तान 5 2-1984)

पद्म-गंधा भोर

वसती आश्वासनों की
बढ गई है डोर।
गोदनों वाली नदी
फिर पिंडलियाँ हँस - हँस दिखाए
खिली हैं—
नवमल्लिका पर
धूप की अनगिन शिखाएँ
सद्य स्नाता - सी खडी है
पद्मगंधा भोर।

छू गई—
जब पेड को
अल्हड हवा की सांस
बो गई उसको समूची
देह मे रोमाच
तन गए शर कान तक
जब से महकता बौर।

(पालिका समाचार फरवरी 1985)

(

नदी की देह पर अनुष्टुप

धूप के कुछ फूल धरता
आ गया मौसम।

धुंध मे लिपटी नदी की देह पर
रचती अनुष्टुप लेखनी-किरणे
दूब की छुवनें
किनारो की त्वचा मे
फिर सिहरनो-सी लगी तिरने
लाल चदन धूल भरता
आ गया मौसम।

रागिनी जो—
चीड-वन मे कल ठिठुरती थी
महकती वह सिवानो मे
फिर हवाओ मे
उगे हैं पख रेशम के
गगन नापा उडानो ने
एक आदिम भूल करता
आ गया मौसम।

ताल की फैली हथेली पर
चुटकिया भर
भोर ने फिर गध धर दी है
गदुमी होती दिशाओ ने
हिरणियो के गात मे
फिर गमक भर दी है
दृष्टिया अनुकूल करता
आ गया मौसम।

(आजकल 1-7-85)

मुग्धा हवाएँ

लिए आया
चैत की परछाइयाँ
फिर धूप का दपण।

फिर समर्पण को विवश
ये ऋतुमती मुग्धा हवाएँ हैं
सृजन का संकल्प ले आईं
सभी प्रमदा दिशाएँ हैं

प्यास के
प्रतिविम्व-सा थिरका
सलोने रूप का दर्पण।

अमलतासी स्वप्न-से
सब हो गए पूजन
यो अँटारी से
कपोतो के झरें कूजन
झुकी डालें—
फिर हरे शहतूत की
फिर कूप का दर्पण।

(दैनिक हिंदुस्तान 1-4 1984)

पख होते हैं समय के

पख होते हैं समय के
एक फुनगी पर
कहाँ वह आज तक ठहरा।
डाल हाथो को हिलाकर
लाख रोके
फूल भी दें खोल
खुशबू के झरोखे
पर गगन छूते
पखेरू की उडानो पर
लगा कब आज तक पहरा।
सुरमई हो साँझ या हो
दिन ललाई के
गीत उसके होठ पर
रहते विदाई के
मिले नखलिस्तान कोई
या मिले फैला हुआ
बस दूर तक सहरा।
रेत हो जाए भले ही
कोपलो की देह
विवश आँखो से झरे
चाहे निरन्तर मेह
पर छिपा अवसाद-रेखा
वह सदा जाए उडा
नि श्वास ले गहरा
(धमयुग 4 8-1985)

चलें, दण्डक-वन चुनें

घात मे
जब बिजलिया है
पड रहा है तब हमे
अनिकेत होना।

साझ से ही तन गई है
भृकुटिया आकाश की
कल्पना करनी सरल है
रात के सत्रास की
हो गया निश्चित यहाँ पर
अब हमारा
प्रलय से अभिषेक होना।

नियत भी तो है नही
कुछ अवधि इस निर्वास की
चुभेगी अब याद केवल
कुछ दिनो की फाँस-सी
चले दण्डक वन चुनें हम
अब नही अपना कभी
साकेत होना।

पल सुनहरे आज तक के
कर दिए है नाम जिनके
क्या न आते जिदगी मे
और भी हम काम उनके
यदि न पडता झेलना
अहसास का यो रेत होना।

(दैनिक भास्कर 9 3-86)

शोर किरचों-सा

आज भी चुभता रहा दिन भर
शोर किरचों - सा
पर नही टूटी उदासी की सावली पर्तें।

तहाकर सम्बोधनो को
था रख दिया कब का
फिर कहाँ से आ खडी है यह याद सिरहाने
अधलिखे कुछ खत किताबो मे थे कभी छूटे
मिटे सब आखर
लग उनके अथ पियराने
खुली आखो म नही अब नीद या सपने
एक खालीपन रखेगा
फिर-से वही शर्तें।

वक्त है या जाल कोई दूर तक फला
साँझ की हिरनो
विवश जिसमे कसमसाती है
झेल ले वह यातना शायद शिकजो की
देख शूली पर चढे दिन को
आख उसकी डबडबानी है
लांघ कितने ढूह टीलो को
जिदगी आई
और कितनी हैं बची अब भी
क्या पता गर्तें

(उत्तर प्रदेश मासिक 1-5-1984)

कछारो पर दोपहर

हाथ-सी हिलती रहेगी
देर तक वह डाल
खोल डैने उड चले हम
छोड खाली नीड।

चैत लगते ही गया झर
उम्र-सा जब नीम
धूल मे तब मिल गए
सम्बोधनो के पात
छीजती पहचान-सी
झुलसी हुई जो दूब
कान मे एकान्त के वह
कह रही क्या बात
'हम अकेले ही चले है'—
भ्रम गया यह टूट
साथ यादो की मिली
चलती हुई जब भीड।

जिदगी भर पा सके
हमसे नही कुछ पेड
कोहरे-सा घेरता
यह एक पश्चात्ताप
रोज हमने इस बगीचे पर
किए जो जुल्म

काश, जाए कल उन्हे
यह भूल अपने आप
क्या करें इनसे भला
सवेदना की मांग
जानते है सह रहे
हमसे अधिक ये चीड

कछारो पर हाँफती
यो ही रहेगी दोपहर
भटकती होगी
वहाँ फिर जगलो मे शाम
हम चले कस मुट्ठियो मे
अनुभवो के बौर
सूख कर भी जो लिखेगे
गध के कुछ नाम
सिवानो पर रात की
पाजेब होगी मौन
मेड पर सोई रहेगी
ओस भीगो मीड।

(अवकाश अप्रैल, 1986)

रेत धसी डोंगी

कल तक तो एक चीज
हम थे उपयोगी।
आज हुए गंधहीन पारिजात धूल झरे
आंचल मे भरने को कोई क्यो भूल करे
सुरभित इनसे
अब यह रात नही होगी।
बंजर में क्लमे कल पाटल की रोपी
सपनो की कलियाँ चुन - चुन उनको सोपी
खूब रही
खुद है अब मरुथल के जोगी।
लौटाया जिसने था सागर के ज्वारो को
ललकारा था कल उच्छृङ्खल धारो को
रेत धँसी—
देखी आज वही डोंगी।

(भास्कर 2

छायाहीन बबूल

गध समय की धारा में बह
जाने कितनी दूर गई
तट पर छूटे टूटे भ्रम-से
यादो के कुछ सूखे फूल।

मेघदूत रटती एकाकी
यक्ष-प्रिया-सी द्वीपवती
रेत हुई जाती है पल-पल
जिसकी काया गीतमती
मरुस्थली भटकन ने पाए
केवल छायाहीन बबूल।

चिकनी मछली-सी मुट्ठी से
फिसल गई है पहचानें
अब तो अभिनय ही ढोती हैं
नकली फीकी मुस्कानें
रोमिल सम्बधो के तन में
चुभते तीखे वचक शूल।

(हरियाणा सवाद 1-7-1985)

बिम्ब उभर आए

धुंधले सीमान्तो को
जब-जब है ताका
भरी हुई आँखो के
बिम्ब उभर आए।

कल, परसो, बरसो के
अंतराल फैले
नई लाल कोपल के
स्वप्न हुए मैले
झुलसे कचनारो को
जब-जब है ताका
दो ठिठकी बाहो के
बिम्ब उभर आए।

चिडियो के बच्चो-से
बोल कभी फूटे
पर उडते ही उन पर
बाण कई छूटे
पथराई झीलो को
जब जब है ताका
शब्दहीन होठो के
बिम्ब उभर आए।

जिन्हे विदा कर आए हम
    पगवाटो पर
पता नही होगे वे
    अब किन घाटो पर
जाल घिरे हिरनो को
    जब-जब है ताका
कुछ घायल छदो के
    बिम्ब उभर आए ।

(भास्कर 16-6-1985)

औघड अधेरा

मसानो की चुप्पियो - सा
यह अकेलापन तना है।

झील तन पर बरगदो के
प्रेत - से साए झुके हैं
सा रही जो वसनहीना
है पिए औघड अँधेरा
रात भी अब भैरवी - सी
लग रही है तन्नलीना
अघोरी वातावरण यह
धुआँ मन्त्रो का घना है।

पौष का पश्चिम पवन यह
चीड के इन जगलो को
झनझना ठिठुरा रहा है
रीढ उनकी कँपकँपाता
आ किसी शापित शिला से
भय समाना जा रहा है
ठठाकर एकान्त मे जब -
हँस उठी शव - साधना है।

(दनिक आज 2 6 1985)

सिर फिरा कबीरा

फूल खिले हैं
तितली नाचे
आओ इन पर गीत लिखें हम
भूख, गरीबी या शोषण से
कविता - रानी को क्या लेना।

महानगर की
चौडी सडकें
इन पर बंदर - नाच दिखाएँ
अपनी उत्सव - सध्याओ मे
भाडा देकर भाड बुलाएँ
हम हैं—
सस्कृति के रखवाले
इसे रखेगे शो केसो मे
मूढ - गँवारो की चीखो से
शाश्वत वाणी को क्या लेना।

लिए लुकाठी
रहा घूमता
गली गली सिर - फिरा कबीरा
दो कौडी की साख नही थी
कैसे उसको मिलता हीरा
लखटकिया—
छदो का स्वागत
राजसभा के द्वार करेंगे
निपट निराले तेरे स्वर से
इस रजधानी को क्या लेना।

गाँव भर की देह है नीली

यह धुआँ
सच ही बहुत कड़ुवा—घना काला
क्षितिज तक दीवार
फिर भी बन न पाएगा।

लाश सूरज की दबी चट्टान के नीचे—
सोच यह मन मे
ठठाकर रात हँसती है
सुन अँधेरी कोठरी की वृद्ध खाँसी को
आत्ममुग्धा—
गर्विता यह व्यग्य कसती है

एक जाला सा समय की आँख मे उतरा
पर उजाला
सहज ही यो छिन न पाएगा

संखिया काई—कुओ मे डाल जाता है
हवा व्याकुल
गाँव भर की देह है नीली
दिशाएँ नि स्पद सब
बेहोश सीवाने
कुटिलता की गुंजलक
होती नही ढीली
पर गरुड-से
भैरवी के पंख फैलेंगे
चुप्पियो के नाग का फन
तन न पाएगा।

यात्रान्त

वे कौन-सी पगडडियाँ
    जिन पर न अकित हैं
कथानक लौट आने के ?
पीछे मुडा जिनसे नही है
    एक भी नाविक
    दिशाएँ कौन-सी ऐसी ?

पर लादकर यो
सम्पदाएँ विफलताओ की
    किनारे जिस तरह लौटे
मस्तूल उखडा पोत—
ये जर्जर पताकाएँ
    लिए अवशेष सपनो के
क्या चीर धुँधले क्षितिज का
        यह वक्ष कुहराया
        कभी लौटा दिगन्तो से—
            कोई यहाँ अब तक
    लुटा माणिक्य रत्नो को ?

अभिशाप को ढोता हुआ
    सुनसान लहरो पर
    सदा यह प्रेत-सा भटका
मोहित किए
आठो पहर हो

इसे ज्यो तत्र सिद्धो की
सकेत करती दूर से
उदभ्रात-सा रखकर
लिए पीछे चलो जाती
वन बिंदु ज्यो आलोक का
दिग्भ्रमित करते हो
विपथगा मत्र वे पढतो

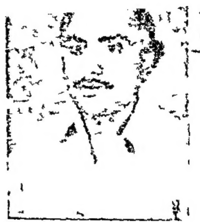
निर्दिष्ट अपना
छोडकर प्रारब्ध के हाथो
तटो से दूर ही भटके
हम जिंदगी भर गाह कर
यो व्यथ सागर को
घिरे तूफान मे आखिर
तब नोच डाले पाल सब
भूखी तरगो ने
अदेखी हिंस्र दाढ़ो से

फैले तटो की रेत तक
ककाल को ढोकर
बहा लाए वही झोके

आलेख धमिल अब लिए
उस विगत गाथा के
खडे हम हाथ मलते है

इतिहास के पन्नो सरीखे
पत्र य तट के
करण कुछ गीत बुनते हैं।

(उत्तर प्रदेश फरवरी 1985)



राजेन्द्र गौतम

पिता का नाम श्री रामभगत गौतम

जन्म तिथि 6 सितम्बर 1952

जन्म स्थान ग्राम बराह कलाँ, जि॰ जींद (हरयाणा)

शिक्षा पी-एच॰ डी॰

प्रकाशन

1 गीत पर्व आया है (हरयाणा साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत)

2 हिन्दी नवगीत : उद्भव और विकास

3 पंत के काव्य में आभिजात्यवादी और स्वच्छन्दतावादी तत्त्व (शोध प्रबन्ध)

4 भारतीय संस्कृति, दर्शन, सभ्यता एवं कला (संपादित)

5 नवगीत दशक 3
6 यात्रा में साथ साथ
7 कवि अनुपस्थित है
} संयुक्त संकलन

8 प्रकृति तुम वन्द्य हो (यंत्रस्थ)

सम्प्रति रामलाल आनंद कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर वेतनमान में प्राध्यापक।

सम्पर्क बी 226, राजनगर पालम, नई दिल्ली-110045